

Prof. Shashi Sharma, Principal
Professor, Department of Political Science
E-mail: prof.shashisharma@gmail.com

Political Sociology, PAPER VII

भारतीय लोकतंत्र का सामाजशास्त्रीय अध्ययन

भारत का लोकतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर सिर्फ आकार में ही विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र नहीं है, अपितु सबसे जीवन्त लोकतंत्र भी है, जहाँ आम आदमी राजनीति के क्षेत्र में अपनी ताकत आजमाइश कर सकता है। भारतीय समाज की समस्या यह है कि वह परम्परागत और आधुनिक दो संस्कृतियों की अन्तर्धराओं के बीच बहते हुए एक अलग पहचान बनाने की मुसलसल कोशिश कर रहा है, जो पारम्परिक-आधुनिक संस्कृति के सहअस्तित्व के रूप में अपनी मौजूदगी दर्शाता है। भारतीय लोकतंत्र की पुनर्सचना के साथ जुड़ी संभावनाओं, यथार्थों एवं राजनीति के प्रति बदलते रुझानों पर यदि संघान किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि समाज के आधुनिकीकरण का मुख्य कारक समाज का राजनीतिकरण है।

भारत का संसदीय लोकतंत्र सात दशकों की यात्रा तय कर आठवें दशक में प्रवेश कर काफी बदले स्वरूप में हमारे सामने है। सत्रवीं लोकसभा का चुनाव परिणाम दशकों बाद संसद में एकदलीय प्रभुत्व की स्थापना का गवाह बना है। इन बहतर वर्षों के सफर में भारतीय लोकतंत्र ने बदलाव के कई पड़ाव देखे। आजादी के बाद के दशकों में समसामयिक राजनीतिक नेतृत्व का प्रधान लक्ष्य था बहुसंस्कृति वाले पारम्परिक समाज को राष्ट्रीय एकता के प्रति जागरूक बनाना और उसे हासिल करने के लिए नेतृत्व द्वारा प्रभुत्व एवं समायोजन, दो तरीके अपनाये गये। भारत को एकीकृत राष्ट्र बनाने का श्रेय इन्हीं दोनों तरीकों को जाता है। इसके माध्यम से राज्य व्यवस्था द्वारा समाज व्यवस्था में आवश्यक बदलाव लाने के साथ-साथ उसे संरक्षित रखने का दायित्व भी बखूबी निभाया गया और इस लक्ष्य को पाने के लिए समाज के राजनीतिकरण की प्रक्रिया को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। व्यवस्था के समक्ष सबसे बड़ी कसौटी यह थी कि सत्ता के विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया को किस प्रकार व्यवस्थित और उद्देश्यपूर्ण ढंग से यथार्थ की जमीन पर उतारा जाय ताकि राजनीतिक सत्ता व्यापक स्तर पर वैधता प्राप्त करने में कामयाब हो सके। सच्चाई यह थी कि आमजन में राजनीति के प्रति अरुचि और जागरूकता में कमी की वजह से व्यवस्था को सामाजिक मांगों का ज्यादा दबाव नहीं झेलना पड़ा। प्रभुत्व-संरचनाओं द्वारा परिवर्तन/प्रक्रियाओं में गतिशील एजेन्टों की भूमिका निभायी गई। अधिकारीतंत्र के गंभीर प्रयासों की वजह से बड़े पैमाने पर प्रभुत्व की संरचनाओं द्वारा समाज में अपनी पैठ बनाते हुए राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को पटरी पर लाने की कोशिश की गई। जहाँ समसामयिक राजनीतिक नेतृत्व की ऊँची प्रतिष्ठा ने पारम्परिक समाज में राजनीतिक सत्ता को वैधता दिलाने में अहम भूमिका निभायी, वहीं सत्ताधारी पार्टी की विस्तारित गतिविधियों के कारण राजनीतिक व्यवस्था का सामाजिक जीवन में अधिकाधिक प्रवेश संभव हो सका।

दुनिया के सबसे बड़े संवैधानिक दस्तावेजों में एक भारतीय संविधान का क्रियात्मक लक्ष्य बहुधर्मी एवं बहुसांस्कृतिक समाज का राजनीतिक एकीकरण करना था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राजनीतिक अभिजनों से यह अपेक्षा थी कि वे राजनीति के प्रति अचानक की अरुचि को समाप्त करें, उन्हें राजनीतिक सहभागिता के लिए अभिप्रेरित करें, नए हितों के प्रति जागरूक बनायें और यथास्थिति में बदलाव की जोरदार मांग उठाये जाने की परिस्थितियाँ उत्पन्न कराएँ। इस तथ्य के मद्देजर यहाँ राजनीति को समय-समय पर अनेकानेक कठिनाइयों-दुविधाओं का सामना करना पड़ा।

भारतीय राजनीति के दो मुख्य अवयव हैं- जातिवाद और साम्प्रदायिकता। समाज के राजनीतिकरण के पुरोधों का मत है कि यहाँ की राजनीति पर सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों की छाया गहरी है। सामाजिक संरचना में किसी प्रकार के बुनियादी परिवर्तन के अभाव में यह अन्तर्विरोध और ज्यादा गहराता जा रहा है। आधुनिक राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था के साथ परम्परागत सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का सामंजस्य न हो पाने के कारण वोटों की गोलबन्दी की दृष्टि से जातीय समीकरण एवं ध्रुवीकरण का खैया चुनाव-दर-चुनाव नये रूपों में सामने आ रहा है। वस्तुतः, जाति और संसदीय राजनीति की अन्योन्यक्रिया की वजह से आमजन लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय हुआ और बिना किसी भारी उथल-पुथल के सांस्कृतिक विविधता वाले पारम्परिक भारतीय समाज का सकलरीकरण हो गया।

सामाजिक-राजनीतिक प्रबंधन के साधन के रूप में यहाँ साम्प्रदायिक एवं जातीय राजनीति की भूमिका सबसे अहम रही है। राजनीतिक सत्ता के सामाजिक आधार में महत्त्वपूर्ण बदलाव एवं समायोजन की परिस्थितियों से राजनीति में जातियों की दमदार अभिव्यक्ति संभव हो सकी और राजनीतिक समूहन एवं एकीकरण की प्रक्रिया को अमली जामा पहनाया जा सका।

रजनी कोठारी ने तर्कसंगत रूप में सिद्ध किया है कि भारतीय लोकतंत्रको मजबूत बनाने में जाति संरचना एवं जातीय राजनीतिकरण की भूमिका अहम रही है। यहाँ की संसदीय राजनीति में जाति-व्यवस्था की भागीदारी निरंतर समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया को अंजाम दे रही है। कोठारी का यह दावा है कि जाति और राजनीति के मेल की वजह से बिना किसी भारी उथल-पुथल के समाज का सतत विकास जारी है। भारतीय संस्कृति और सामाजिक संरचना का कौन-सा पहलू लोगों के राजनीतिकरण की प्रक्रिया के अनुकूल निकलेगा और कौन प्रतिकूल यह विश्लेषण करना मुश्किल है। भारतीय परिवार और समाज की संरचना जन्म से लेकर वयस्क होने तक जिस व्यक्ति की रचना करता है, वह आधुनिक सामूहिक जीवन की जरूरतों पर खरा उतरता है या नहीं यह गहन विश्लेषण का संदर्भ है। मूलतः, संस्कृति और अ-सेकुलर स्वभाव वाले समाज में विकसित होने वाले राजनीतिक संस्कार जिस राजनीतिक शिष्टमयत की रचना करता है वह किन अर्थों में पश्चिमीसमाज में पले-बड़े राजनीतिक व्यक्ति से अलग है, यह संदर्भ भी निरंतर आनुभविक स्तर पर गहन अध्ययन-विश्लेषण की मांग कर रहा है। यह सत्य है कि आजादी के बाद कई दशकों तक जाति की सामाजिक शक्ति को घटाने और उसकी राजनीतिक सक्रियता के उन्मूलन के लिए बड़े पैमाने पर गंभीर प्रयास किये गए, लेकिन जिन समाजों में

सेकुलर विचारधारा का हवाला देते हुए इन पारम्परिक निष्ठाओं की अभिव्यक्ति को खारिज करने की कोशिश की गई वहाँ के समाज की पारम्परिक संस्कृति के लिए यह प्रयास नुकसानदेह साबित हुआ। भारतीय समाज और राजनीति, जाति और राजनीति की अन्योन्यक्रिया से साथ-साथ प्रभावित हुआ और राजनीतिक एकीकरण को नया स्वरूप मिला। राजनीति और समाज का गठजोड़ लोकतांत्रिक प्रक्रिया को प्राणधर तत्व प्रदान करता है, साथ-ही राजनीतिक प्रक्रिया में सामाजिक तात्पर्य का समावेश भी करता है। जाति और राजनीति की आपसी क्रिया के परिणामस्वरूप चुनाव के समय स्पर्धात्मक राजनीतिक गतिविधियों को नयी हैसियत मिलती है और जातियों का नये सिरे से राजनीतिकरण होता रहता है। यहाँ राजनीतिक एकीकरण की खुली प्रक्रिया इसलिए संभव हो पायी क्योंकि चुनावी राजनीति में जातीय अस्मिताओं के महत्त्व को खुलकर स्वीकार किया गया। समाज के सेकुलरीकरण की प्रक्रिया को अंजाम देने के क्रम में राजनीतिक स्तर पर जातियों को आबादी के हैसियत के अनुरूप गोलबन्द करके राजनीतिक लेन-देन की प्रक्रिया शुरू हुई। जातियों के राजनीतिकरण से राजनीतिक सहभागिता के प्रति जागरूकता बढ़ी। निचली जातियों और उपेक्षित तबके राजनीति की मुख्यधारा से जुड़ने लगे, साथ- ही अपनी राजनीतिक हैसियत के अनुरूप दावेदारियों करने में भी निपुण हो गए। जातीय जागरूकता से राजनीति में क्षेत्रीयकरण को बढ़ावा मिला और गठजोड़ की राजनीति का युग आरंभ हुआ। जाति समूहों द्वारा राजनीति को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाकर मजबूत अस्मिता का दावा पेश किया जाने लगा जिसके परिणामस्वरूप राजसत्ता के मंच पर स्पर्धात्मक राजनीतिक शक्तिधरतों में जातीय नेता के रूप में अपने को प्रतिष्ठापित करने की होड़ लग गई।

दुनिया के सबसे बड़े संवैधानिक लोकतंत्र में विकसित दलीय प्रणाली एक पार्टी की वर्चस्व वाली प्रणाली से लेकर गठजोड़ सरकार के युग तक की सफर तय कर चुकी है। यहाँ के संसदीय लोकतंत्र की कार्यप्रणाली और दलीयप्रणाली के बदलते स्वरूप से मुख्यतः चार बातें उजागर होती हैं। पहला, लोकतंत्र की राजनीति गठजोड़ राजनीति से चलती है और दलीय प्रणाली का स्वरूप उसी के अनुरूप नये रूप में ढलता रहता है। यह गठजोड़ रचना चाहे एक पार्टी की सरकार के अंदर कार्यरत विभिन्न समुदायों, हितों, राजनीतिक प्रवृत्तियों, विचारधाराओं का गठजोड़ होता रहा है या दो से अधिक दलों का आपसी गठजोड़। यहाँ दलीय प्रणाली का विकास तीन चरणों की यात्रा तय कर चुका है। पहले चरण में साठके दशक के अंत तक कांग्रेस एक वर्चस्व वाली पार्टी के रूप में लोकतंत्र पर हावी रहा। दूसरे चरण में एक पार्टी के वर्चस्व की जगह लोकतंत्र पर वर्चस्व बनाने के लिए बहुदलीय गठजोड़ की संस्कृति जोर पकड़ने लगी। तृतीय चरण में बहुदलीय प्रतियोगिता राज्य व्यवस्था की उत्तरोत्तर खुली गठजोड़ की राजनीति में परिणत हो गयी। परिणामस्वरूप यहाँ गठजोड़ राजनीति को काफी मजबूती मिली। जिन राज्यों में लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को व्यवहार में लागू किया गया, वहाँ राजनीति में बड़े पैमाने पर अभिजनों की लोकतंत्र में भागीदारी के लिए पंचायती राज व्यवस्था लागू की गई। लेकिन, वस्तुस्थिति यह है कि राज्यों की स्थानीय राजनीति में भागीदारी केवल स्थानीय रूतवेवाले हस्तियों की जागीर बनकर रह गई है। लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की कसौटी पर खरा न उतर कर पंचायतीराज व्यवस्था ग्रामीण क्षेत्रों में निरंतर सामाजिक-आर्थिक खाई को चौड़ा करने में अहम भूमिका निभा रही है।

राजनीतिक संस्थाओं के अंदर बढ़ती गुटबाजी से राज्यों का राजनीतिक चरित्र एकसार नहीं रह पाया। राजनीति में तालमेल ओर समझौते की परंपरा जोर पकड़ती गयी। सत्तर-अस्सी के दशक में कई पार्टियों

की मिली-जुली सरकारों का दौर आरंभ हो गया। सरकार की कार्यशैली ने जनता का राजनीति से मोहभंग किया। आरंभिक दौर में वह विरोध असंगठित ओर बिखरा हुआ जरूर था, लेकिन आमजनों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़ी और धीरे-धीरे समसामयिक राजनीतिक परिवेश का संज्ञान लेते हुए लोग गोलबंद होकर सार्वजनिक मंचों पर मुखर होने लगे। गठजोड़ की राजनीति ने भारतीय लोकतंत्र को एक नया आयाम दिया, साथ ही, उसे सहभागी लोकतंत्र के रूप में प्रतिष्ठापित भी किया।

सत्तर के दशक तक राजनीति पर कांग्रेस के बर्चस्व की वजह से राजनीतिक जुड़ाव के रूप में आम मतदाता सिर्फ कांग्रेस के साथ अपनी शिनाख्त करते थे, लेकिन पार्टियों की जातिगत पहचान, बढ़ते पार्टीगत असंतोष, एवं राजनीति में क्षेत्रीयकरण की बढ़ती प्रवृत्ति ने मतदाताओं के राजनीतिक जुड़ाव और पहचान का दायरा विस्तारित किया, इसके साथ दलीय प्रणाली की समस्याओं में इजापफा भी हुआ। हाँ, यह सही है कि गठजोड़ की राजनीति से, राजनीतिक सहभागिता के विस्तार को नई उर्ध्वाधर मिली। लोकतंत्र के महापर्व के समय चुनाव पद्धति के रूप में राजनीतिक प्रतिस्पर्ध की प्रक्रिया जनसाधारण का ध्यान राजसत्ता की ओर खींचने में कारगर भूमिका निभाती है। आम आदमी का रुझान चाहे राजनीति में न हो, लेकिन चुनाव के समय राजनीतिक दलों एवं राजनेताओं की रुचि आम आदमी में बढ़ जाती है क्योंकि राजनीतिज्ञ ताकतवर तभी होते हैं जब जनसामान्य में अपना अक्स देखते हैं।

नब्बे के दशक के पहले राजनीतिक दल जातीय आधार पर समाज से सीधे संवाद करने से कतराते थे साथ ही वे यह कबूलने से भी बचते थे कि वे समाज के किस तबके के साथ खड़े हैं, लेकिन आज सभी दल इन प्रसंगों को आधार बनाकर समाज से सीधे संवाद करने को बेताब दिखते हैं। आज नेताओं का प्रत्येक राजनीतिक कार्य जैसे संदेशों एवं प्रतीकों को साथ लेकर चलता है जो वोट बैंक के मजबूतीकरण पर आधारित होता है। चुनावी राजनीति के मद्देनजर दलों के सभी राजनीतिक कार्यों के पीछे स्वपोषित नैतिक सांस्कृतिक मूल्य छिपे होते हैं। यों तो सामाजिक ढांचे में जाति, धर्म, समूह का वर्चस्व हमेशा से रहा है, लेकिन जबसे जातियों के राजनीतिकरण और सामाजिक न्याय के सुधरवादी मंत्र ने चुनावी राजनीति को अपनी गिरपफ्त में लिया है तबसे वोटों की गोलबन्दी और सामाजिक समीकरण के मामले में राजनीतिक दलों का चेहरा काफी पारदर्शी हो गया है।

आजादी के 72 सालों बाद भी धर्म एक बड़ी शक्ति है। सामाजिक न्याय या राजनीतिक संस्कार के निर्माण व मुक्ति के संघर्ष में धर्म की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। धर्मनिरपेक्षता पाश्चात्य विचारधारा है जो शायद भारतीय राजनीति के संदर्भ में उतनी सार्थक नहीं हो पाती यदि हमारा लोकतंत्र सभी समुदायों— वर्गों को स्वतंत्रता, समानता और सामाजिक न्याय की सुरक्षा प्रदान न करता। यह सत्य है कि धर्म ने समुदाय निर्माण और चेतना—विकास में योगदान दिया है। यदि हम इतिहास की गहराइयों में उतरे तो यह ज्ञात होता है कि धर्म ने सांप्रदायिकता की जड़ों का बीजारोपण नहीं किया, वस्तुतः, ये अंग्रेजी हुकूमरानों द्वारा दी गई विरासत है। अपनी राजनीति के आवश्यकतानुसार अंग्रेजों ने कभी एक तो कभी दूसरे समुदाय को अपनी की मांगों को उठाने के लिए उकसाने का काम किया और अपनी राजनीति को चमकाने की कोशिश करते रहे। इस प्रकार, सांप्रदायिकता एक आधुनिक परिघटना है जो अंग्रेजी हुकूमत के दौरान पनपी है। चालीस के दशक के आरंभिक चरण में जैसे-जैसे स्वतंत्रता पाने की संभावना बढ़ती गई, सत्ता की हिस्सेदारी की प्रतिस्पर्धा भी सघन हुई। सत्ता की लालसा ने दानों प्रमुख समुदायों के बीच सामुदायिक संघर्ष को नई गति दी। इन प्रतिस्पर्धी स्वार्थ को सुलझाया नहीं जा सका इसलिए अंततः देश का विभाजन हो गया। देश विभाजन को सांप्रदायिक समस्या के अंतिम समाधान के रूप में देखा गया। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर भारत में सांप्रदायिक शक्तियाँ नई ऊँचाईयों के साथ सिर उठाने लगी। रूढ़िवादिता, धर्मनिरपेक्षता का सांप्रदायिकता के साथ चोली-दामन का साथ बना।

स्वतंत्र भारत में धर्मनिरपेक्षता एवं राष्ट्रवाद जैसी आधुनिक शब्दावली केवल शिक्षित अभिजात वर्ग तक सिमटी रही। जनसाधारण को आकर्षित करने में बहुत सफलता हासिल न कर सका। भारतीय लोकतंत्र के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक सांप्रदायिकता के यथार्थ को जानने समझने के लिए मध्यकालीन इतिहास के गर्भ में झांकना होगा। दरअसल, सांप्रदायिकता भारतीय लोकतंत्र को कमजोर करने का एक राजनीतिक हथियार है। सांप्रदायिक शक्तियां अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए समाज की मानवता को टुकड़ों में बांटना चाहती हैं। देश की सांप्रदायिक शक्तियां अपनी कृत्यों को ज़ायज़ ठहराने के लिए सांप्रदायिक मुद्दों की जड़ें इतिहास में तलाशती रहती हैं। जैसे कि, राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद प्रकरण पर मुस्लिम एवं हिन्दू सांप्रदायिक शक्तियों ने अपनी गतिविधियों को उचित ठहराने की कोशिश करके लोकतंत्र को शर्मशार करने का कार्य किया। वस्तुतः, सांप्रदायिकता एक सांप्रदायिक परिघटना नहीं है, यह समाज में धर्म के प्रति कट्टरता की भावना रखनेवाले समूह के स्वार्थों से जुड़ी है।

जातियों एवं सम्प्रदायों के जरिये किसी भी राजनीतिक समझौते पर पहुँचने में अब किसी दल को कोई शर्मन्दगी महसूस नहीं होती है। जाति और सम्प्रदाय आधारित सूचनाओं का आदान-प्रदान अब खुलेआम होता है और इस परिपेक्ष्य में राजनीति एवं समाज के मध्य संवादों की आवा-जाही का द्वार सदैव खुला होता है। जाति एवं धर्म के पुरोधों द्वारा इस कार्य में मध्यस्थ की भूमिका निभायी जाती है। राजनीतिक समीकरण की प्रक्रिया ने समाज को राजनीतिक टकराहट और संघर्ष का अखाड़ा बना दिया है। सामाजिक गतिशीलता के बढ़ते स्तर की वजह से राज्य पर समाज का दबाव बढ़ता जा रहा है। शायद यह राज्य के ऊपर समाज की जनतांत्रिक मानसिकता के प्रतिष्ठापन की पुष्टि है। राजनीतिक विकास और आधुनिकीकरण की वर्चस्वधर्मी परियोजना के तहत राज्य शक्ति के विस्तार के साथ-साथ राजनीतिक समीकरण की प्रक्रिया के स्वरूप में भी बदलाव आया है। भारत में राज्य समाज का नेतृत्वकर्ता और हस्तक्षेपकर्ता दोनों है।

यहाँ नब्बे के दशक में प्रमुखता से आकार लेने वाले दो ज्वलन्त प्रसंगों पर गौर करना जरूरी है जिसने परम्परागत समाज के ताने-बाने को पूरी तरह झकझोर दिया। मंडल मसले की वजह से जहाँ समाज में जातिगत टकराहट की गूँज चारों ओर सुनाई पड़ने लगी, वहीं सामुदायिक टकराहट के रूप में मंदिर-मस्जिद समस्या ने भी समाज की बुनावट को छिन्न-भिन्न करने में अहम भूमिका निभाई, क्योंकि इसकी वजह से हिन्दू राष्ट्रवाद प्रभुत्व में आया। बहरहाल, संसदीय लोकतंत्र में राजनीति की शुरुआत, सामाजिक संरचना के निचले पायदान से होती हैं इस स्तर पर राजनीतिक दलों की राजनीति जाति, धर्म, साम्प्रदायिकता या वर्गीय आधार पर सिमटती नहीं है अपितु ये सारी शक्तियाँ लोकतंत्र के नाम पर संविधान और सामाजिक न्याय का मंत्र जाप करती हुई सत्ता के खेल में मेजबान की भूमिका अदा करती हैं।

दरअसल, यहाँ की संसदीय राजनीति के अनुभवपरक अध्ययन के लिए मौजूदा राजनीतिक संस्कृति एवं राजनीतिक समाजीकरण के स्वरूप का यथार्थपरक अध्ययन अति आवश्यक है और इसके लिए आम आदमी का राजनीति के प्रति आकर्षण-विकर्षण के रूख को जानना-समझना बेहद जरूरी है। वस्तुतः, बहुलवादी सहभागितामूलक समाज में राजनीति हमेशा एकीकरण की समस्याओं से जूझती रहती है। एक बेहद जटिल और विविधतामूलक सामाजिक ढाँचे का राष्ट्रीय एकीकरण सिर्फ लोकलभावन राजनीति द्वारा संभव नहीं है। मौजूदा राजनीति में अस्तित्व रखने वाले जातीय मुहावरों, गठजोड़ों, समीकरणों, विचारधाराओं, साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता की टकराहट की गहराई में उतरने के लिए एक तथ्यपरक अनुभवपरक गहन शोध की दरकार है, ताकि इस गंभीर मुद्दे पर खुले विमर्श को न्योता देकर यथार्थपरक मूल्यांकन की दिशा में ठोस कदम बढ़ाया जा सके।